# रामगीता

**प्रस्तोता– महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी**

**ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना विधाय रामायणकीर्तिमुत्तमाम्।**
**चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो राजर्षिवर्यैरभिसेवितँ यथा ॥ १॥**

**अर्थ**– श्रीमहादेवजी श्रीरामलक्ष्मणसंवादद्वारा तत्वज्ञानका उपदेश करते हुये कहते हैं, हे पार्वती! श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित जगत् के मङ्गलों के मङ्गलरूप अपनी ब्रह्मानन्दमूर्ति से रघूत्तम श्री रामचन्द्र जी ने उत्तम अर्थात् सुनने आदि से मोक्ष देने वाली रामायणकीर्ति अर्थात् वाल्मीकीयरामायण आदि ग्रन्थों को प्रवृत्त करने वाली, रावण आदि बड़े बड़े राक्षसों को मारने आदि से उत्पन्न हुई कीर्ति को स्थापित कर सीतापरित्याग के अनन्तर अपने पुरखों व बड़े बड़े राजाधिराजों द्वारा किये हुये प्रजापालनादि सत्कर्मों को सम्पन्न किया॥ १॥

**सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना रामः कथाः प्राह पुरातनीः शुभाः।**
**राज्ञः प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघवः॥ २॥**

**अर्थ**– उदार अर्थात् गुरु व देवताओं के विश्वास करने रूप गुण वाली अथवा दान करने में प्रीतिवाली बुद्धि से युक्त सुमित्रानन्दन श्री लक्ष्मण जी के पूछने पर श्री रामचन्द्र जी पुराने उत्तम राजाओं की धर्म-अधर्म का निर्णय करने वाली कथाओं को कहने लगे। इसी प्रसङ्ग में वे बोले कि हे भाई असंख्य गोदान करने वाले परम उदार राजा नृग ने ब्राह्मण को दी हुई गौ के पुनः आने पर, उसे भूल से अपनी जान अन्य ब्राह्मण को दे दिया, तब वह राजा ब्रह्मणों के शापसे तिर्यक् अर्थात् गिरगिट की योनि में उत्पन्न हुआ॥ २॥

**कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं रामं रमालालितपादपङ्कजम्।**
**सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत्॥ ३॥**

**अर्थ :-** किसी दिन भगवान् राम, जिनके चरणकमलों की सेवा साक्षात् श्री लक्ष्मी जी करती है, एकान्त में बैठे हुए थे। उस समय शुद्ध विचार वाले लक्ष्मण जी ने (उनके पास जा) उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर अति विनीत भाव से कहा–

**त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।**
**प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम्॥ ४ ॥**

**अर्थ**- श्री लक्ष्मण जी बोले कि हे महामते (सर्वज्ञ), आप शुद्धबोध अर्थात् अनवच्छिन्न चैतन्यज्ञानस्वरूप हो, और सम्पूर्ण देहधारियों के आत्मा हो, अर्थात् सर्वजीव आप ही के प्रतिबिंब रूप हैं, और आप ही सबके अन्तर्यामी नियन्ता हो, और हम लोगों के समान प्रारब्ध से बनी हुई आकारवाले नहीं, किन्तु निराकार हो, इस प्रकार के आप के स्वरूप को आपके चरणकमलों के विषय में भ्रमर के समान संसक्त अन्तःकरण वाले, वेदान्तवाक्यजनित ज्ञानरूपदृष्टि वाले स्वयं जानते हैं॥ ४॥

**अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो भवापवर्गं तव योगिभावितम्।**
**यथाञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम्॥ ५॥**

**अर्थ**- हे प्रभो (सर्वशक्तिमन्) मैं संसारबन्धनसे मुक्त कराने वाले, व योगियों द्वारा संसारबन्धन से छूटने के लिये ध्यान किये हुये आपके चरणकमल की शरण में आ गया हूं, इसलिये हे स्वामिन् जिस प्रकार मैं संसार के मूलकारण अज्ञानरूप अपार समुद्रको सुखपूर्वक पार कर जाऊं अर्थात् शुद्धज्ञानसम्पन्न होकर परमदुर्लभ मोक्ष को पा जाऊं, मुझ को ऐसा उपदेश कीजिए॥ ५॥

**श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं दा प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः।**
**विज्ञानमज्ञानतमः प्रशान्तये श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः॥ ६॥**

**अर्थ**- श्री शिवजी श्री पार्वती जी से बोले कि इस प्रकार लक्ष्मणजी के कहने के अनन्तर शरणागत भक्तों का तत्काल ही सांसारिक क्लेश दूर करने वाले भ्रमादि दोषों से रहित, भक्तों पर अनुग्रह करने में परायण ऐसी बुद्धि वाले तथा राजाओं के आभूषणरूप श्री रामचन्द्र जी श्री लक्ष्मण जी के समस्त कथनको यथावत् सुनकर उनके अज्ञानरूप अन्धकार की शान्ति के लिये श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्वज्ञान को श्री लक्ष्मण जी से कहने लगे॥ ६॥

**आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।**
**समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये॥ ७॥**

**अर्थ**- श्री रामचन्द्र जी बोले - हे लक्ष्मण पहले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों में से आप जिस वर्ण में हो, तथा ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यास इन चारों आश्रमों में आप जिस आश्रम में हो, उस वर्ण व आश्रम की शास्त्रों में कही हुई नित्य नैमित्तिक यज्ञदानादि क्रियाओं को यथाविधि सम्पन्न करके अन्तःकरण को शुद्ध करें, फिर शम (अन्तरिन्द्रियदमन), दम (बाह्येन्द्रियनिग्रह), वैराग्यादि साधनों को भलीभांति जान कर पूर्वोक्त क्रियाओं को त्याग दें। आत्मज्ञानसम्पदनार्थ 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का विचार करने के निमित्त वेदवेत्ता व ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुका आश्रय लें॥ ७॥

**क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।**
**धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥ ८॥**

**अर्थ**- यह संसार घूमते हुये चक्र की समान है। इसकी निवृत्ति संसार के मूल कारण अज्ञान के निवृत्त होने से होती है तथा अज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है। तत्त्वज्ञान 'तत्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों का विचार करने से होता है। इस कारण वेदान्तवाक्यों का विचार करने के निमित्त सद्गुरु का आश्रय अवश्य करना हे लक्ष्मण, देही पूर्वजन्म में आदरपूर्वक जो जो कर्म करता है, तदनुसार शरीर को प्राप्त करता है, फिर उस शरीर में विषयासक्त होकर रहता है। बाद उसको शास्त्र में कहे हुये धर्म व अधर्म प्राप्त होते हैं, उनके परिणाम स्वरूप इस जन्म में शुभाशुभ कर्मो का सञ्चय होता है, जिसके होने के कारण देही को पुनः जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार संसार में प्राणी का जन्म जन्म से कर्म तथा कर्म से पुनः जन्म का चक्र चलता रहता है ऐसा कहा जाता है॥ ८॥

**अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।**
**विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥ ९॥**

**अर्थ** :- कर्म तथा अज्ञान का विरोध नहीं है। इसलिये कर्म अज्ञान को निवृत्त नहीं करता, किन्तु अंधकार का विरोधी होने से सूर्यादिकों का प्रकाश ही अन्धकार को नष्ट करता है। इसी प्रकार कर्म का विरोधी होने से आत्मज्ञान ही प्राणी की बुद्धि में विद्यमान अज्ञान को दूर करता है, इससे यह सूचित हुए कि अज्ञान नाश करने के लिये ज्ञान सम्पादन ही परमावश्यक है, यही इसकी एकमात्र विधि है। अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण कर्म विद्या अर्थात् ज्ञान का विरोधी है, न कि अज्ञान का॥९॥

**नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।**
**ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत्॥ १०॥**

**अर्थ** :- सकाम कर्म द्वारा अज्ञान का नाश अथवा राग का क्षय नहीं हो सकता बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्म की ही उत्पत्ति होती है अतः उससे पुनः संसार की प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसके विपरीत कर्म करने से न तो अज्ञान निवृत्त होता है, न विषयाभिलाषा ही दूर होती है। अतः उसे स्वर्गादिफलरूप कर्म के बाद भी पुनः संसार का भोग करना पड़ता है। चूँकि कर्म से संसार की निवृत्ति किसी काल में नहीं होती, अतः कर्म से मोक्ष की आशा करना वृथा है। विवेकी पुरुष जिनसे आत्मज्ञान होता है, ऐसे वेदान्त वाक्यों का ही विचार करे॥१०॥

**ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्।**
**कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः॥ ११॥**

**अर्थ** :- ज्ञान व कर्म इन दोनों से मोक्ष होती है, किन्तु केवल ज्ञान से तथा केवल कर्म से मोक्ष नहीं होती, जैसे ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मवै भवति' 'विद्ययामृतमश्नुते' इत्यादि वाक्यों द्वारा

श्रुति, स्मृति, पुराण, शास्त्र, आदि ज्ञान को परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधन बताते हैं, वैसे ही 'उभाभ्यमेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्- इत्यादि वाक्यों द्वारा कुछ विद्वान् ज्ञान के साथ कर्म को भी ब्रह्म (मोक्ष) का साधन बताते हैं। अतः प्राणी को नित्य-नैमित्तिक कर्म अवश्य करना चाहिये, क्योंकि आगे चलकर वही कर्म मोक्ष प्राप्त कराने में ज्ञान का सहायक हो जाता है॥११॥

**कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा।**
**ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते॥ १२॥**

**अर्थ** :- श्रुति में अनेकत्र कर्म न करने में दोष बताया गया है, इसीलिए मोक्ष की इ%छा करने वाले पुरुष को नित्य नैमित्तिक कर्म सदैव करने चाहिये। इस विषय में सिद्धान्ती कहता है कि जैसे सूर्यादिकों का प्रकाश मन से भी किसी की सहायता की अपेक्षा न करके केवल स्वतन्त्ररूप से ही अन्धकार नाश कर देता है वैसे ही ज्ञान भी की अपेक्षा न रखता हुआ स्वतन्त्ररूप से अज्ञान का नाश कर स्थिर मोक्ष को प्राप्त करा देता है॥१२॥

**न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान्।**
**तथैव विद्या विधितः प्रकाशितैर्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये॥ १३॥**

**अर्थ** :- जैसे 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित स्थिर कार्य करनेवाला यज्ञ भी पूर्ण फल सम्पादनार्थ प्रयाज, अनुयाज, आदि अङ्गों व देश कालादिकों की अपेक्षा रखता है, वैसे ही ज्ञान भी मोक्ष प्रदान करने में 'अग्नि होत्रं जुहोति' इत्यादि विधिवाक्यों द्वारा कहे गये कर्मों की सहायता की अपेक्षा रखता है, बिना कर्मों की सहायता लिए वह मोक्ष देने में समर्थ नहीं होता॥१३॥

**केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिनस्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात्।**
**देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥ १४॥**

**अर्थ** :- श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से कहते हैं, कि हे लक्ष्मण! जिस प्रकार केवल कर्म से मोक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार केवल ज्ञान से भी मोक्ष नहीं हो सकता, यह उनका कहना सर्वथा असत् अर्थात् किसी और ज्ञान का प्रत्यक्ष विरोध प्रतीत होता है, इन दोनों का एक साथ होना नितान्त असम्भव है, देखो! जड़ देह के विषय में 'मैं चेतन हूं' ऐसा मिथ्याभिमान होने से देही के द्वारा कर्म वृद्धि को प्राप्त होता है, और ज्ञान देह के विषय में अहंताममतारूप मिथ्याभिमान न रहने पर ही होता है, इस प्रकार परस्पर विरोधी कर्म और ज्ञान परस्पर एक दूसरे की सहायता करके किसी कार्य को कदापि नहीं कर सकते॥१४॥

**विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।**
**उदेति कर्माखिलकारकादिभिर्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम्॥ १५॥**

**अर्थ** :- श्री रामचन्द्र जी बोले, कि हे लक्ष्मण! जिनसे शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसी (तत्वमसि) आदि अन्तःकरण की वृत्ति होती है, उसे ही विद्वान् पुरुष विद्या (ज्ञान) कहते हैं यज्ञादि कर्म तो कारकों अर्थात् प्रयाज अनुयाज आदि अङ्गों द्वारा अनुष्ठित होन पर ही फल देने में समर्थ होता है, जबकि ज्ञान सम्पूर्ण कारक अर्थात् कर्तृत्वबुद्धि को हरता है। किन्तु कर्म द्वारा चित्त शुद्ध होता है तब ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः कर्म ज्ञानोत्पत्ति में कारण है परंतु ज्ञान को अपने फलरूप मोक्ष के प्रदान करने में कर्म की कुछ भी अपेक्षा नहीं है॥१५॥

**तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधीर्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत्।**
**आत्मानुसन्धानपरायणः सदा निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः॥ १६॥**

**अर्थ** :- इसलिये समस्त बाह्य एवं अन्तः इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसन्धान में लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा त्याग कर दे। क्योंकि विद्या का विरोधी होने के कारण कर्म का उसके साथ समुच्चय कदापि नहीं हो सकता॥१६॥

**यावच्छरीरादिषु माययात्मधीस्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणम्।**
**नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य तज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः॥ १७॥**

**अर्थ** :- संसारी होने के कारण जब तक माया से मोहित रहने वाले मनुष्य का अपने शरीरादि में अहंकार वृत्तिजन्य आत्मभाव विद्यमान है तभी तक उसे यज्ञादि वैदिक कर्मानुष्ठान काम्यरूप में कर्तव्य हैं। शास्त्रानुसार 'नेति-नेति' आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म-वस्तुओं का निषेध करके अपने परमात्मस्वरूप को जान लेने पर ज्ञानी पुरुष द्वारा अन्ततः समस्त कर्मों को छोड़ दिया जाना चाहिये यही उचित है॥१७॥

**यदा परात्मात्मविभेदभेदकं विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम्।**
**तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा सकारका कारणमात्मसंसृतेः॥ १८॥**

**अर्थ** :- जिस समय कर्म से पार्थक्य के कारण एक मात्र ज्ञान में निष्ठावाले ज्ञानी साचक पुरुष्ष को परमात्मा और जीवात्मा के भेद को दूर करने वाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरण में स्वतः स्पष्टतया भासित होने लगता है, उसी समय प्राणी के लिये संसार-प्राप्ति की कारणभूता माया भी अनायास ही अपने कारकादि कर्म इत्यादि के सहित स्वतः लीन हो जाती है॥१८॥

**श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।**
**विज्ञानमात्रादमला द्वितीयतस्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति॥ १९॥**

**अर्थ** :- श्री रामचन्द्र जी फिर वही बात कहते हैं कि, हे लक्ष्मण! तत्त्वमसि आदि श्रुतिरूप प्रमाणों से सिद्ध विचारजन्य ज्ञान से नष्ट होने वाली वह माया क्या फिर भी किसी प्रकार कार्य कर सकती है? अर्थात् कदापि नहीं। जिस प्रकार अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी में 'यह सर्प है,' ऐसा भ्रम होकर भय होता है, पुनः दीपादि के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाने पर यह सर्प नहीं यह तो रस्सी है, ऐसा ज्ञान होने पर सर्प का भय निवृत्त हो जाता है, और फिर कदापि उससे भय नहीं होता, इसी प्रकार केवल निर्मल अद्वितीय ज्ञानरूप प्रकाश से मायारूप अन्धकार का नाश हो जाने पर फिर दुबारा न तो अन्धकाररूप वह माया ही हो सकती है और ही उसका कार्यभूत संसार उस ज्ञानी पुरुष के लिए हो सकता है॥१९॥

**यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवेत्।**
**तस्मात्स्वतन्त्रा न किमपप्यपेक्षते विद्या विमोक्षाय विभाति केवला॥ २०॥**

**अर्थ** :- एक बार अज्ञान के नष्ट हो जाने पर मैं कर्म का कर्ता हूँ, ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वतन्त्र है। उसे जीव के मोक्ष के लिये अपने अतिरिक्त अन्य किसी कर्मादि की अपेक्षा कदापि नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उसके लिये समर्थ है जैसे अकेला सूर्य ही संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करने में समर्थ होता है॥२०॥

**सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।**
**एतावदित्याह च वाजिनां श्रुतिर्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्॥ २१॥**

**अर्थ** :- श्री रामचन्द्र जी बोले कि हे लक्ष्मण! 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति' (यज्ञादि कर्म करने से, सन्तान उत्पन्न करने से, किंवा धनसम्पादन करने से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु सर्व लौकिक वैदिक कर्मों को त्याग कर ही कोई अन्तर्मुखी पुरुष अमृतत्व को पाता है, जिस अमृतत्व के लिए यती लोग प्रयास करते हैं, वह अमृतत्व स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है, तथा अपनी एकाग्र बुद्धिरूपी गुहा में स्थित है) इस प्रकार की तैत्तिरीय शाखा की प्रसिद्ध श्रुति फलस्तुतिबोधक वाक्यों से उत्तम बताये हुये यज्ञादिक कर्मों का त्याग स्पष्ट रीति से बता रही है, इसी प्रकार 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (ज्ञान से ही अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होती है) इस प्रकार की वाजसनेयिसंहिता की श्रुति भी ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताती है, कर्म को नहीं॥२१॥

**विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः।**
**फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम्॥ २२॥**

**अर्थ** :- तुमने अग्निष्टोमादि यज्ञों को ज्ञान के समान तो बताया, परंतु ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं दिया, जिससे ज्ञान व कर्म का समानभाव सिद्ध हो जाय। 'कर्म व ज्ञान इन दोनों का फल एक ही होता है

इसलिए ये दोनों समान हैं, अथवा यज्ञादि कर्मों का व ज्ञान का एक ही फल होने से भी समान हैं ऐसा कहें तो ठीक नहीं हैं क्योंकि यज्ञादि कर्म के स्वर्गादिक फल तो अनेक प्रकार के हैं, प्रयाज, अनुयाज, देश, काल, कर्तृत्व आदि अनेक प्रकार की सामग्री से सिद्ध होते हैं जबकि ज्ञान का फल तो एक मात्र मोक्ष ही है, तथा ज्ञान में कर्तृत्वादि बुद्धि नहीं रहती। इस प्रकार ज्ञान व यज्ञ में परस्पर बड़ा विपर्यय है ॥२२॥

**सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधीरज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।**
**तस्माद्बुधैस्त्याच्यमविक्रियात्मभिर्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम्॥ २३॥**

**अर्थ** :- शुद्ध चैतन्य आत्मा के विषय में 'कर्म न करने से मैं अवश्य दोषभागी होऊंगा,' इस प्रकार की अनात्म कर्मसम्बन्धी बुद्धि तत्वज्ञानरहित मूढ पुरुष को ही होती है, न कि तत्वज्ञानी को, क्योंकि तत्वज्ञानी के अहंबुद्धि होती नहीं तथा तत्वज्ञानी पापादिकों को अनात्म समझता है। अतएव तत्वज्ञानी पुरुषों को शास्त्र में कर्मफलासक्त चित्तवाले पुरुषों के लिये अवश्यकर्त्तव्य के रूप में कहे हुये कर्म त्याग देने चाहिये ॥२३॥

**श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः।**
**विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः॥ २४॥**

**अर्थ** :- विरक्तपुरुष के कर्तव्य को दिखाते हुये श्री रामचन्द्र जी कहते हैं कि हे लक्ष्मण! गुरु व शास्त्र वाक्यों में विश्वास रखने वाला निष्काम कर्म से शुद्ध अन्तःकरणवाला जिज्ञासु पुरुष गुरु के प्रसाद से तत्त्वमसि इस वेदान्त वाक्य से अनुभव की गयी ब्रह्मजीव की एकता को यथार्थतः जानकर अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा साक्षात्कार करके सुमेरु पर्वत की समान विषयाभिलाषा के प्रति निश्चल मन होकर सुखी हो जाता है ॥२४॥

**आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।**
**तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवकावसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्॥ २५॥**

**अर्थ** :- यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्य का अर्थ जानने में पहले उसके पदों के अर्थ का ज्ञान ही कारण होता है। जैसा कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत् १, त्वम् २, असि ३, ये तीन पद हैं। यहां तत् पद सर्वज्ञत्वादिगुणवान् परमात्मा का वाचक है, त्वम् पद अल्पज्ञत्वादिगुणवान् जीवात्मा का वाचक है, और 'असि' पद तत्त्वंपदार्थवाचक परमात्मा व जीवात्मा इन दोनों की एकता का वाचक है ॥२५॥

**प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनोर्विहाय सङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।**
**संशोधितां लक्षणया च लक्षितां ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥ २६॥**

**अर्थ** :- इन दोनों अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में जीवात्मा प्रत्यक् अर्थात् अन्तःकरण का साक्षी है और परमात्मा परोक्ष अर्थात् इन्द्रियातीत है, इस वाच्यार्थरूप विरोध को छोड़ कर लक्षणावृत्ति से लक्षित उन जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों की शुद्ध चेतनता को ग्रहण कर उस चैतन्य को ही अपना आत्मा जाने और इस प्रकार एकीभाव से स्थित हो॥२६॥

**एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवेत्तथजहल्लक्षणता विरोधतः।**
**सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः॥ २७॥**

**अर्थ** :- 'तत्त्वमसि' इस महाकाव्य में कहे गये 'तत्' और 'त्वम्' पदों में स्वभावतः एकरूपता होने के कारण जहती लक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरुद्ध होने के कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदों के अर्थ की भाँति भेद एवं अभेद की युगपत् स्थिति के कारण इन 'तत्' और 'त्वम्' पदों में भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषता से तात्पर्यार्थ की बोधक हो सकती है॥२७॥

**रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।**
**शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २८॥**

**अर्थ** :- पञ्चीकृत पृथ्वी आदि पञ्च तत्त्वों से बना हुआ, सुख दुःखादि देने वाले पुण्यपापरूप कर्मों के फलरूप सुखःदुखादि भोगने का स्थान, उत्पत्ति और नाश अर्थात् जन्ममरण को प्राप्त होने वाला, पूर्वकृत कर्मों से उत्पन्न व परम्परा से ही माया का विकारभूत जो यह शरीर है, इसी को विद्वान् लोग आत्मा की स्थूल उपाधि कहते हैं। उपाधि किसी आश्रय के ही आश्रित होती वैसे ही यहः शरीर रूपी उपाधि भी अपने आश्रयभूत आत्मा के ही आश्रित होता है। दृष्टिभूत होने के कारण इसे स्थूल कहा गया है॥ २८॥

**सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।**
**भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवेच्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥ २९॥**

**अर्थ** :- जीवात्मा के शरीररूप स्थूल उपाधि का निरूपण करके अब लिङ्गशरीररूप सूक्ष्म उपाधिका निरूपण करते हैं। विद्वान् लोग स्थूल शरीर से विलक्षण लिंग शरीर को भी आत्मा की सूक्ष्म उपाधि कहते हैं, सो वह लिंगशरीर सूक्ष्म अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों का विषय नहीं होता। सङ्कल्पात्मक मन, निश्चयात्मिका बुद्धि, नासा, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, यह पाँच ज्ञानेन्द्रियां, वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, यह पाँच कर्मेन्दियां, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, यह पञ्च वायु इस प्रकार इन सत्रह पदार्थों के समुदाय से बना हुआ, और पञ्चीकरण से रहित पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होने वाला, इसी से अदृश्य

रहने वाला, तथा भोक्ता जीव के सुखदुःखादि को के अनुभव का साधनरूप जिस के वियोग से ही मरण संभव होता है, इस प्रकार का यह सूक्ष्म शरीर जीवात्मा की सूक्ष्म उपाधि है॥२९॥

**अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।**
**उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात्॥ ३०॥**

**अर्थ :-** जीवात्मा की स्थूल तथा सूक्ष्मरूप दो उपाधियों का निरूपण कर परमात्मा की उपाधि का निरूपण करते है। अनादि उत्पत्तिरहित, तथा अनेक प्रकार के परिणामों का रूप होने से नाश को प्राप्त होने वाली, सत् असत् रूप से वर्णन करने में असमर्थ, तथा संसार की उत्पत्ति का कारणभूता माया प्राणी की बुद्धि में परमात्मा के ईश्वरत्व का व्यवहार सम्पादन करने वाले प्रधान शरीर के उपाधि भेद से एक ही चैतन्य परमात्मा एवं जीवात्मा दो रूपो में पृथक है इस द्वैतभाव उत्पन्न करती है। अतः भागत्यागलक्षणा द्वारा उपाधि भेद को नष्ट कर श्रवण, मनन व निदिध्यासन आदि के क्रम से अपने में ही आत्मा का निश्चय करना चाहिए॥३०॥

**कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृतिर्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा।**
**असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते॥ ३१॥**

**अर्थ :-** हे लक्ष्मण! संगरहित भी यह आत्मा अन्नमय १, प्राणमय २, मनोमय ३, विज्ञानमय ४, इन चारों कोशो के घटकभूत पदार्थ में उस सांसारिक पदार्थ के सङ्ग से उसी के आकार का भासित होता है। जैसे कि शुद्ध सफेद होने पर भी स्फटिक मणि जपा (दुपहरिया) के पुष्प आदि रक्त पदार्थों के संग से तदाकार भासित होने लगता है श्रुत्यनुरूप विचार करने पर यह अच्छी प्रकार विदित हो जाता है कि असङ्ग आत्मा अन्नमयादि कोशों का सङ्गी नहीं, किन्तु उपाधि भेद से ही तदाकार भासित होता है। वास्तव में तो यह अजन्मा ही है तथा अद्वितीय है अतः इसमें भेद की सम्भावना कदापि नहीं हो सकती॥ ३१॥

**बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः।**
**अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे॥ ३२॥**

**अर्थ :-** प्राणिशरीर में त्रिगुणात्मिका बुद्धि की ही स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति-भेद से तीन प्रकार की वृत्तियाँ दिखायी देती हैं, किन्तु इन तीनों वृत्तियों में से प्रत्येक का परस्पर एक-दूसरी में व्यभिचार होने के कारण, ये तीनों एकमात्र कल्याण स्वरूप उस नित्य परब्रह्म में मिथ्या हैं अर्थात् उसमें इन वृत्तियों का सर्वथा अभाव है। वृत्तिशून्य वह ब्रह्म स्वयं अपनी ही स्थिति है क्योंकि सत्त्वादिकगुणत्रय उसके अवस्थान नहीं है जबकि जीव सत्त्वादिगुणों का आश्रम होने के कारण इन वृत्तियों से शाश्वत रूप में बँधा हुआ है॥३२॥

**देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां सङ्घादजस्रं परिवर्तते धियः।**
**वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः॥ ३३॥**

**अर्थ :-** बुद्धि की वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्मा के संघात रूप से निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। जीवशरीर में यह वृत्ति तमोगुण से उत्पन्न होने वाली होने के कारण अज्ञानरूपा है यही इसका लक्षण है और जब तक यह रहती है तब तक ही संसार में जन्म होता रहता है, क्यांकि अज्ञानरूपा इस वृत्ति से कर्मों में प्रवृत्त हुआ जीव कर्मफल योग के लिए जन्म जन्मान्तर से बँध जाता है। उस स्थिति में उसकी मुक्ति संभवप नहीं दिखती॥ ३३॥

**नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः।**
**त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम्॥ ३४॥**

**अर्थ :-** 'नेति-नेति' इत्यादि श्रुति प्रमाणों से निखिल संसार का बाध करके और हृदय में चिद्घनामृत का आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत् को, उसके साररूप सत् अर्थात् ब्रह्म को ग्रहण करके उसी प्रकार त्याग दे ना चाहिए जैसे आस्वादन के योग्य नारियल के सरस जल को पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं॥३४॥

**कदाचिदात्मा न मृतो न जायते न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।**
**निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः॥ ३५॥**

**अर्थ :-** हे लक्ष्मण! यह आत्मा कभी भी मरता नहीं, जन्मता नहीं, क्षीण होता नहीं, अर्थात् घटता नहीं, और बढ़ता भी नहीं, तथा अनव अर्थात् नवीन भी होता नहीं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में कहे हुये जो 'जायते, अस्ति, विपरिणमत, वर्धते, अपक्षीयते, नश्यति, (अर्थात् उत्पन्न होना, उत्पन्न होकर विद्यमान रहना, रूप बदल जाना, बढ़ना, घटना, नाश को प्राप्त होना, ये छः विकार हैं जिन से आत्मा रहित है। आत्मा षड्विकारशून्य है इसी से स्वलाभ अर्थात् आत्मलाभ से देह व इन्द्रियादि के महत्व को दूर करने वाला है आत्मा सुखात्मक (आनन्दस्वरूप) व स्वयं प्रकाश है। श्रुति भी कहती है 'यस्य भासा सर्व मिदं विभाति'। आत्मा सर्वगत है सर्वव्यापक है। अहंबुद्धि का विषय प्रत्यगात्मा जीव भी अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है॥३५॥

**एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते।**
**अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात्॥ ३६॥**

**अर्थ :-** अब जब आत्मा इस प्रकार षड्विकार शून्य है तो उसके द्वारा जन्ममरणादि प्रवाहरूप संसार कैसे भासित होता है? इस शंका का समाधान करते हुये कि इस प्रकार के ज्ञानमय व सुखात्मक

अर्थात् आनन्दरूप आत्मा के द्वारा बहुत से दु:खों से युक्त संसार कैसे प्रतीत होता है इसका उत्तर यह है कि अज्ञानमूलक देह व अन्त:करणादि के द्वारा अहंताममतारूप अध्यास से ही संसार प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञान व अज्ञान का परस्पर विरोध है ज्ञानोदय होते ही अज्ञानमूलक अध्यासात्मक संसार क्षणमात्र में उसी प्रकार लीन हो जाता है, जैसे अंधेरा होने के कारण रस्सी में होने वाली सर्प की भ्रांति उजाला होते ही क्षणमात्र में लीन हो जाती है॥३६॥

**यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।**
**असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ ३७॥**

**अर्थ** :- जो भ्रमजनक दोष से अन्य वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु भासित होती है, उसको ही विद्वान् लोग 'अध्यास' कहते हैं, जैसे सर्प न होने पर भी अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी के द्वारा सर्प का रूप भासित होता है, अर्थात् सर्प न होने पर भी 'यह सर्प है' ऐसी भ्रान्ति होती है, यही अध्यास कहलाता है, ऐसे ही आत्मा के द्वारा भी अज्ञान के कारण जो देहादिरूप संसार की प्रतीति हो रही है, वह अध्यास ही है। ज्ञान रूपी प्रकाश के द्वारा ही इसका उन्मूलन सम्भव है॥३७॥

**विकल्पमायारहिते चिदात्मकेऽहङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः।**
**अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे निरामये ब्रह्मणि केवले परे॥ ३८॥**

**अर्थ** :- अब आत्मा के द्वारा जो जगत् का भान होता है, उसका कारणभूत अध्यास कैसा है? यह बताते हैं। समस्त विकल्पों की कारणभूता, माया से रहित, अर्थात् माया के संग से रहित चैतन्य रूप, सबके कारण, निरामय अर्थात् दु:खहीन, आनन्दमय, केवल अर्थात् निर्विकार पर अर्थात् दृश्य से विलक्षण, ब्रह्म अर्थात् व्यापक आत्मा के द्वारा सबसे पहले जो अहंकार कल्पित किया गया है, वही अध्यास है, अर्थात् 'मैं देह हूं, मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं,' इत्यादि अहंबुद्धिरूप अध्यास ही जन्ममरणादिरूप सर्वसंसार का कारण है॥३८॥

**इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः सदा धियः संसृतिहेतवः परे।**
**यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः॥ ३९॥**

**अर्थ** :- सबके साक्षी रूप आत्मा में इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दु:खादिरूप बुद्धि की वृत्तियाँ ही इस जन्म-मरण रूप संसार की उद्भावना में कारण है, क्योंकि सुषुप्ति में इनका अभाव हो जाने पर हमें अपने आत्मा का इससे पृथक् सुख रूप में भान सम्भव होता है॥३९॥

**अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।**
**आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि॥ ४०॥**

**अर्थ** :- अनादि अविद्या से उत्पन्न हुई त्रिगुणात्मिका बुद्धि में प्रतिबिम्बित उस चेतन आत्मा का प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है। बुद्धि के साक्षीरूप होने के कारण स्पष्ट है कि आत्मा उससे पृथक् है। न तो वह उसका ज्ञान कर सकती है, न उसका अनुभव ही उसे हो सकता है, अतः उसे इसकी अपेक्षा भी नहीं है। वह परात्मा तो बुद्धि से सर्वथा अपरिच्छिन्न है॥४०॥

**चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गतस्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत्।**
**अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः॥ ४१॥**

**अर्थ** :- अग्नि से तपे हुए लोहे के समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धि के एकत्र रहने से परस्पर अन्योन्याध्यास होने के कारण क्रमशः उनकी चेतनता, और जड़ता प्रतीत होती है। जिस प्रकार अग्नि से तपे हुए लोहपिण्ड में अग्नि और लोहे का तादात्म्य हो जाने से लोहे का आकार अग्नि और अग्नि की उष्णता लोहे में दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा का तादात्म्य हो जाने से आत्मा की चेतना बुद्धि आदि में और बुद्धि आदि की जडता आत्मा में प्रतीत होने लगती है॥४१॥

**गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।**
**स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम्॥ ४२॥**

**अर्थ** :- वेदान्त के वाक्यों तथा गुरू के सान्निध्य द्वारा श्रवण तथा मनन आदि उपायो से प्राप्त हुआ है ज्ञानरूप आत्मा का अनुभव जिसको अर्थात् जिसने श्रवण व मनन करने के अनन्तर निदिध्यासन भी कर लिया है, उसको चाहिये कि अपने हृदय में ही स्थित, चिदानन्दस्वरूप व उपाधिधर्मरहित आत्मा का साक्षात्कार करके आत्मा के ज्ञान से भ्रमवश प्रतीत होने वाले जड़रूप देह इन्द्रिय आदि समस्त दृश्य पदार्थों की सत्ता के भान को त्याग दे॥४२॥

**प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।**
**विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः॥ ४३॥**

**अर्थ** :- विवेकी पुरुष इस प्रकार विचारे कि मैं स्वप्रकाशरूप हूं, अर्थात् जैसे परप्रकाशरूप घटादि पदार्थ हैं वैसा मैं नहीं हूं, और मैं अजन्मा हूं अर्थात् मेरे द्वारा जन्मादि किसी काल में भी होते नहीं, और मैं अद्वय अर्थात् सजातीय, विजातीय व स्वगत इन तीनों भेदों से रहित हूं, और मैं असकृद्विभात हूं, अर्थात् एक बार भी अन्य सूर्यादि प्रकाशक द्वारा प्रकाशित नहीं हूँ। मैं अतीव निर्मल अर्थात् मायाकृत आवरण विक्षेप आदि मलों से रहित हूँ, और विशुद्ध विज्ञान अर्थात् विशुद्ध चैतन्यरूप एकरस हूं, निरामय अर्थात् कर्तृत्व (मैं करता हूं, मैं भोक्ता हूं) इत्यादि अभिमान से रहित हूं, सम्पूर्ण अर्थात् देशकाल के परिच्छेद से रहित सर्वव्यापी हूं, आनन्दमय अर्थात् प्रचुरानन्दस्वरूप हूं, अक्रिय अर्थात् क्रियारहित होने के कारण परिणामहीन हूं॥४३॥

**सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमानतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः।**
**अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधैर्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः॥ ४४॥**

**अर्थ** :- मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश मेरे हृदय में चिन्तन करते हैं॥४४॥

**एवं सदात्मानमखण्डितात्मना विचारमाणस्य विशुद्धभावना।**
**हन्यादविद्यामचिरेण कारकै रसायनं यद्वदुपासितं रुजः॥ ४५॥**

**अर्थ** :- पूर्वोक्त रीति से सदा अखण्डित अर्थात् विषयों से न खिंचे हुये मन से विचार करते हुये पुरुष की विशुद्ध भावना से युक्त ब्रह्माकार अन्तःकरण की वृत्ति उदित होती है, और वह उदित होकर अन्य देहों को प्राप्त कराने वाले कर्मों के सहित अविद्या (अज्ञान) का शीघ्र ही नाश करती है, जैसे सेवन किया हुआ रसायन अर्थात् औषध रोगों का तुरन्त नाश कर देता है॥४५॥

**विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।**
**विभावयेदेकमनन्यसाधनो विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः॥ ४६॥**

**अर्थ** :- आत्मचिन्तन करने वाले पुरुष को चाहिये कि वह एकान्त देश में इन्द्रियों को उनके विषयों से सर्वथा हटाकर और अन्तःकरण को अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मा में स्थित होकर, और किसी साधन का आश्रय न लेकर, शुद्धचित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टि द्वारा अपने में एक मात्र आत्मा की ही भावना करे ऐसा आत्मनिष्ठ साधक ही ब्रह्मानन्द को पा सकता है, दूसरा नहीं॥४६॥

**विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं विलापयेदात्मनि सर्वकारणे।**
**पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्॥ ४७॥**

अर्थ :- यह दृश्यमाण चराचर विश्व परमात्मस्वरूप ही है ऐसा समझ कर इसे सबके कारणरूप आत्मा में लीन करे, इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूप में स्थित हो जाता है उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता अर्थात् ब्रह्ममय हो जाने पर उसे किसी भी पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रह जाती। वह तो ब्रह्मज्ञान के प्रकाश में प्रकाशित होकर स्वयं भासने लगता है तथा आनन्दमय होने से उसे सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा नहीं रहती॥४७॥

**पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तयेदोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।**
**तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः॥ ४८॥**

**अर्थ** :- समाधिसिद्धि के पहले जो कृत्य करना चाहिये उसका उपदेश करते हुये श्रीरामचन्द्रजी बोले - हे लक्ष्मण! समस्त विषयसंगनिवृत्तिपूर्वक ब्रह्म कार वृत्ति के प्राप्त होने को समाधि कहते हैं, उससे

पहले सम्पूर्ण चर अचर जगत् को ओंकारबोधक रूप में माने यह जगत् वाच्य है, प्रणव (ओंकार) वाचक हैं, परंतु यह भावना भी ज्ञान से ही होती है। निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर नहीं होती, क्योंकि उस काल में प्राणी की सभी वृत्तियां लीन हो जाती हैं॥४८॥

**अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।**
**प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत्॥ ४९॥**

**अर्थ** :- ओंकार में अ, उ और म् - ये तीन वर्ण हैं, इनमें से अकार विश्व (जागृति के अभिमानी) का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्न का अभिमानी) को कहते हैं, मकार प्राज्ञ (सुषुप्ति का अभिमानी) को कहते हैं, ऐसा वेदोक्त मत है इस प्रकार की भावना करे, परंतु यह भावना समाधि के पहले ही होती है, तत्वसाक्षात्कार होने पर नहीं होती, क्योंकि उस समय सब वृत्तियों का ब्रह्म में ही लय हो जाता है, इस भावना से भी शनैः शनैः सभी वृत्तियाँ अन्तरात्मा में ही लीन होने लगती हैं॥४९॥

**विश्वं त्वकारं पुरुषं विलोपयेदुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।**
**ततो मकारे प्रविलोप्य तैजसं द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ५०॥**

**अर्थ** :- अनेक प्रकार के स्थूल देहाभिमान से स्थित विराट् रूप अकार का वा%य जो विश्वपुरुष उसको अर्थात् तद्वाचक अकार को उकार का वा%य लिंगदेहाभिमानी हिरण्यगर्भरूप जो तैजस पुरुष अर्थात् तद्वाचक उकार उसमें लीन करे। फिर लिंगदेहाभिमानी तैजस पुरुष अर्थात् तद्वाचक ओंकार के दूसरे अक्षर उकार को मकार का वा%य जो मायोपाधिक प्राज्ञ पुरुष अर्थात् तद्वाचक मकार उसमें लीन करे अर्थात् तद्रूप जाने इस ओंकार साधना से भी साधक क्रमशः अन्तर्मुखी हो जाता है॥५०॥

**मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे विलोपयेत्प्राज्ञमपीह कारणम्।**
**सोऽहं परं चास्मि सदा विमुक्तिमद्विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः॥ ५१॥**

**अर्थ** :- फिर इसी क्रम को आगे बढाते हुए कारणात्मा प्राज्ञरूप मकार को भी चिद्घनरूप परमात्मा में लीन करे, (और ऐसी भावना करे कि) वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ इस भावना से आत्मनिष्ठ साधक आवश्यक ही दृढता को प्राप्त कर तत्त्वसाक्षात्कार में सफल हो जाता है वह देहाद्युपाधि से विनिर्मुक्त हुआ ब्रह्म में ही रमण करने लगता है तथा अन्ततः विशुद्ध आनन्द का भोक्ता बन जाता है॥५१॥

**एवं सदा जातपरात्मभावनः स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।**
**आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत्॥ ५२॥**

**अर्थ** :- इस प्रकार निरन्तर परमात्मभावना करते करते जो आत्मानन्द में मग्न हो गया है तथा जिसके द्वारा सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च विस्मृत कर दिया गया है ऐसा वह साधक नित्य आत्मानन्द का अनुभव

करने वाला जीवन्मुक्त योगी होकर निस्तरङ्ग समुद्र के समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है उस स्थिति में परमशान्ति का अनुभव कर अत्यन्त तृप्त होता है। यही ब्रह्मसायुज्य है जो सामान्य प्राणी के लिए अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है॥५२॥

**एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।**
**विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥ ५३॥**

**अर्थ** :- इस प्रकार के भावनावान् पुरुष को मेरी प्राप्ति अवश्य ही होती है। पूर्वोक्त प्रकार से सदाकाल समाधियोग का अभ्यास करने से निवृत्त हो गये है सर्ब इन्द्रियों के शब्द आदि विषय जिसके और जीत लिया है कामादिक समस्त शत्रुओं को जिसने अर्थात् विषयों में जिसके अन्तःकरण की प्रवृत्ति नहीं है अतएव सर्वज्ञत्व नित्यतृप्तत्व बोधरूपत्व स्वतन्त्रत्व नित्यलुप्तत्व अनन्तरूपत्व इन षड्गुणों से युक्त परमात्मा को वश किया है जिसने, ऐसे योगी जितात्मा पुरुष के लिए परमात्मा ही दृश्य होता हैं, यह जगत नहीं॥५३॥

**ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनिस्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।**
**प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥ ५४॥**

**अर्थ** :- इस प्रकार अहर्निश एकमात्र आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ साधक इस संसार में जीवन पर्यन्त सर्वदा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे तथा कर्ताभोक्तपन के अभिमान को छोड़कर प्रारब्ध-फल को भोगता रहे। इससे प्रारब्ध की समाप्ति के अनन्तर पुनः कर्मबन्ध से मुक्त हुआ वह जीवात्मा अन्त में साक्षात् मुझ परमात्मा में ही लीन हो जाता है इसमें तनिक भी संशय नहीं॥५४॥

**आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो भवं विदित्वा भयशोककारणम्।**
**हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥ ५५॥**

**अर्थ** :- संसार को आदि मध्य, व अन्त में भय और शोक का कारण जानकर संसार के कारणभूत 'स्वर्गकामोयजेत-अर्थात् स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करै' इत्यादि विधिवाक्यों द्वारा प्रेरित समस्त सकाम कर्ममार्ग को छोड़ कर सम्पूर्ण जीवों के स्वरूपभूत स्वस्वरूप परमेश्वर का भजन करे॥५५॥

**आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।**
**यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥ ५६॥**

**अर्थ** :- जब प्राणी आत्मा अर्थात् सबके आधारभूत मुझ में स्वस्वरूप जीव की अभेदरूप से भावना करता हुआ स्थित होता है, तब वह जीवात्मा मुझ से स्वतः अभिन्न हो जाता है, अर्थात् मद्रूप ही हो जाता है, जैसे समुद्र में गया हुआ जल समुद्ररूप ही जाता है, अथवा जैसे दूध में डाला हुआ

पानी दूध ही हो जाता है, घट आदि के फूट जाने पर घटाकाश व मठाकाश आदि भी महदाकाश में मिलकर महदाकाशका रूप हो जाता है अथवा जैसे चमड़े की धौंकनी आदि का वायु महावायु में नामरूप रहित होकर मिल जाता है॥५६॥

**इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।**
**निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५७॥**

**अर्थ** :- जो तत्ववेत्ता पुरुष जीवन्मुक्तदशा में प्रारब्धवश लोकव्यवहार को करता हुआ भी 'यह जगत् मिथ्या ही है' ऐसा विचार करता हुआ जीवात्मा व परमात्मा की एकता को जानता है, तब 'जगत् सत्य है' यह भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे एक चन्द्रमा दृष्टिदोष के कारण दो चन्द्रमाओं का भ्रम एकत्वज्ञान से निवृत्त हो जाता है, तथा जैसे पूर्व आदि दिशा में 'यह पश्चिम दिशा है' इत्यादि अन्य दिशा का भ्रम दिशा का तत्वज्ञान होने पर निवृत्त हो जाता है, अथवा जैसे स्वयं घूमते हुए पुरुष को पास के सब वृक्षादि घूम रहे हैं, भ्रम स्थिर होने पर निवृत्त हो जाता है॥५७॥

**यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।**
**श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि॥ ५८॥**

**अर्थ** :- जब तक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे तब तक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है, उसे अपने हृदय में सर्वदा मेरा ही साक्षात्कार होता है॥५८॥

**रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।**
**यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान् स मुक्ष्यते पातकराशिभिः क्षणात्॥ ५९॥**

**अर्थ** :- इस प्रकार अत्यनत रहस्यमय अत्यन्त गुप्त, श्रुतियों के सारसंग्रहरूप इस विषय का निश्चय करके मैंने तुम्हारे प्रति भलीभांति वर्णन किया। जो बुद्धिमान् पुरुष इसका अच्छी प्रकार विचार करता है, वह उसी क्षण पापों की राशि से छूट जाता है॥५९॥

**भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जगन्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।**
**मद्भावनाभावितशुद्धमानसः सुखी भवानन्दमयो निरामयः॥ ६०॥**

**अर्थ** :- हे भ्राता! यह जो कुछ भी जगत् दिखायी देता है, वह सब माया है। इसे अपने चित्त से निकाल कर मेरी भावना से शुद्ध चित्त और सुखी होकर इस जगत् में विद्यमान की अनुभूति के होने पर भी तुम शाश्वत रूप से आनन्दपूर्ण एवं क्लेशशून्य हो जाओ॥६०॥

**यः सेवते मामगुणं गुणात्परं हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।**
**सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन् पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥ ६१॥**

**अर्थ** :- जो मनुष्य जब कभी निर्मल अन्तःकरण से सच्चिदानन्दरूप होने के कारण प्राकृत सत, रज व तमरूप तीनों गुणों से रहित, माया से पर, यद्वा गुणात्मकता से युक्त, मेरे स्वरूप का सेवन करता है वह मेरा भक्त अपने चरणकमल में लगी हुई धूल से स्पर्श करता हुआ तीनों लोकों को वैसे ही पवित्र करता है, जैसे भगवान् सूर्यनारायण अपनी किरणों के स्पर्श से तीनों लोकों को पवित्र करते हैं॥६१॥

**विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।**
**यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः॥ ६२॥**

**अर्थ** :- विज्ञान को उत्पन्न करने वाला, तथा 'नावेदविन्मानुते तं बृहन्तम्' और 'तमौपनिषदं पुरुषंपृ%छामि' इत्यादि श्रुतियों के कथनानुसार उपनिषद्वाक्यों द्वारा जानने योग्य मेरे वर्णन से युक्त सर्व श्रुतियों का सारभूत जो यह अद्वितीय रामगीता स्तोत्र है, इसका जो मनुष्य गुरु के वचनों में भक्ति व विश्वास युक्त होकर पाठ करता है, वह पुरुष यदि मेरे वचनों में भक्तिमान् हो तो अवश्य मेरे ही रूप को प्राप्त हो जाता है॥६२॥

*प्रधान संपादक,*
*विश्व दीप दिव्य संदेश, जयपुर*